सिंहासन ख़ाली करो कि जनता आती है...

राज्य, समाज और धर्म सत्ता प्रतिष्ठानों के पायदानों पर बैठे और उनके बोझ से दबे हुए महिला-पुरुषों की संख्या का कोई ओर छोर नहीं है। हमारे देश में वर्ण-व्यवस्था के परिणामस्वरूप हजारों हजार लोग सवर्णों के सेवकों के रूप में ही मरते-खपते रहते हैं। व्यवस्था की निरन्तरता के कारण शोषण और असमानता हमारे समाज में पांव पसारे हुए है। आजादी के बाद यह आशा जागी थी कि गोरे प्रभुओं के साथ शोषण और असमानता से निजात मिलेगी। जहां तक भारत के संविधान का प्रश्न है उसमें शोषण और असमानता को समाप्त कर दिया गया है। लेकिन समय के साथ हुए अनुभव से यह बात समझ में आई कि लिखित अनुच्छेदों और यथार्थ की स्थिति में जो खाई है वह आसानी से पाटी नहीं जा सकती है। लाख कोशिशों के उपरांत भी संस्कारों के पहाड़ को धकियाना इतना आसान नहीं है। उनकी जड़ें बहुत गहरी होती हैं और यह भी समझ में आया कि जनतंत्रीय व्यवस्था में परिवर्तन की गति काफ़ी धीमी होती है या कि सदियों से सत्ता सुख भोग रहे परंपरागत अभिजन में आमूल-चूल परिवर्तन जल्दी होने नहीं जा रहा। वह व्यवस्था को अपने हित में ही दोहन करने और यथास्थिति को बनाए रखने में अपना तथा देश का भला समझते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि परंपरागत सामंती सामाजिक व्यवस्था की गाठें ढीली नहीं हुई हैं या कि समाज बीसवीं सदी के पांचवे दशक का ही प्रतिबिंब है। विभिन्न संगठनों और क्षेत्रों में हो रहे प्रयत्नों को देखते हुए घोर अंधेरे में कहीं-कहीं रोशनी दिखाई देने लगी है, उसे आज कोई भी अध्येता खारिज नहीं कर सकता।

भारतीय समाज और राज-व्यवस्था का अध्येता इसके दूसरे पहलू को भी दृष्टि ओझल नहीं कर सकता जो कहीं अधिक चुभने वाला है। 21वीं शताब्दी की दहलीज पर खड़े भारत के कई राज्यों में आज भी जाति के आधार पर निचली सीढ़ियों पर बैठे जन समुदाय के साथ सवर्णों का जो रवैया है वह शरीर पर उभरे फफोलों के समान हैं। चाहे वह बिहार में दलितों का प्रश्न हो या उड़ीसा में दलित जाति की लड़की को साईकिल पर बैठने से रोकने की घटना हो। राजस्थान में दलित दूल्हे के घोड़ी पर बैठने को लेकर हुए विवाद अब भी थम नहीं रहे हैं। समाज के हाशिए पर खड़े दलित समुदाय को आज भी कई जगहों पर वही तिरस्कार और उपेक्षा झेलनी पड़ रही है जो

पहले थी। दूसरा प्रश्न महिलाओं की स्थिति को लेकर है। इस समूह के प्रति समाज और राज व्यवस्था का रवैया दोहरे मानदंडों को ही उजागर करता है। नारी शिक्षा, सशक्तिकरण की योजनाएं और उत्थान से जुड़ी संस्थाओं की चिल्लपों को देखते हुए कोई भी पर्यवेक्षक भ्रमित हो सकता है। इसे देखकर कोई भी खुशफहमी पाल सकता है कि यहां तो क्रांति हो चुकी है। कितनी औरतों के नाम नोबेल पुरस्कार के लिए भेजे जा चुके हैं। उनको देखकर लगता है जैसे—नारी जगत तो इक्कसवीं सदी को भी पार कर गया है। वास्तव में देखा जाए तो यह निरा भ्रम है। यह सब शहरी संभ्रान्त रोटेरी और लायन्स क्लब की पांच सितारा संस्कृति में पली बढ़ी महिलाओं का अपने को प्रतिष्ठित करने के प्रयोजन में फैलाया हुआ दुष्प्रचार है। जरा नज़र घुमाकर देखिए। गांव, कस्बों और शहरों में झुग्गी झोपड़ियों में रहने वाली लाखों औरतें आज भी शिक्षा, स्वास्थ्य और सामान्य जीवन की आवश्यकताओं को जुटाने के लिए जूझ रही हैं। निचले तबके की औरत तो दोहरी मार से परेशान है। वह रोजी-रोटी के स्थान पर छली जाती है। वह बलात्कार की शिकार होती है। वस्तुतः वह आज भी दया की पात्र है। आप किसी भी रूप में या किसी भी चश्में से देखिए वहां महिला-जगल में गुणात्मक और रचनात्मक बदलाव अभी कोसों दूर है। यह स्थिति कोई नई नहीं है। यह अवहेलना और तिरस्कार सामाजिक सांस्कृतिक मानसिकता की ऐतिहासिक विरासत है। इस स्थिति को आप सतही नारे बाजी, अधकचरी योजनाओं और ऊंचे तबके की पढ़ी-लिखी औरतों की चोंचलेबाजी से अनछुआ नहीं कर सकते। इसके लिए राजनीतिक अभिजन में इच्छाशक्ति और साफ नीयत की ज़रूरत है जिसका कहीं कोई अता-पता नहीं है।

दलितों और महिलाओं के साथ-साथ इस देश के अल्पसंख्यकों के प्रश्न पर भी ईमानदारी से विमर्श होना चाहिए। देश की सवर्ण जमात आरएसएस, बजरंग दल, हिंदू महासभा जैसे संगठनों के माध्यम से सांप्रदायिकता की आग को लगातार सुलगाए हुए हैं। छोटे-छोटे गांवों और कस्बों में गरीब मुसलमानों के प्रति जहर फैलाकर उन्हें आतंकित करने की घटनाएं दिनोंदिन बढ़ती जा रही हैं। सवर्णों की चालाकी देखिए कि वे शोषण और असमानता पर आधारित समाज को यथावत बनाए रखने के लिए संपूर्ण मूक और निरक्षर जन-समाज की भावनाएं भड़काने के लिए सांप्रदायिक का इस्तेमाल करते हैं। उधर दूसरी ओर प्रगतिशील अभिजन अपने-अपने खेमों में बंटा हुआ है। देश का दुर्भाग्य देखिए कि इन जनतांत्रिक व्यवस्था में ये सांप्रदायिकता दल ही विकल्प के रूप में अपने आपको प्रस्तुत करते हैं। यह संपूर्ण स्थिति हमारी व्यवस्था के लिए खतरे की घंटी है। हमारे अभिजन ने मूक निरीह और सदियों से हाशिये पर खड़े जनसमूह के लिए सभ्य जीवन जीने का आधारभूत ढांचा तैयार करने में कहीं कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई है। सत्तासीनों ने इसे कभी गंभीरता से लिया ही नहीं। देश में हो रही सत्तापलट, हिंसक घटनाएं और जनसमुदाय में बढ़ती हुई अधीरता एक गंभीर बीमारी के लक्षण के संकेत है। वंचित और मूक जनसमुदाय अब अधिक वर्षों तक इंतज़ार नहीं करेगा। अभी तो वह केवल सरकारें बदल रहा है। यदि इन बदलावों से भी समय रहते न्याय नहीं हुआ तो फिर या तो गृह-युद्ध होंगे या फिर सीधे सारी व्यवस्था बदल दी जायेगी। शायद इसी को क्रांति कहते हैं।

वेददान सुधीर